हिन्दी साहित्य की अंतरात्मा: उपेक्षित समुदायों का सांस्कृतिक एवं सामाजिक यथार्थ

सुनील गुलाबसिंग जाधव*

DOI: https://doi.org/10.5281/zenodo.19501786

ABSTRACT

प्रस्तुत आलेख हिन्दी साहित्य के फलक पर उन समुदायों की उपस्थिति और उनके संघर्षों का विश्लेषण करता है, जिन्हें सदियों तक मुख्यधारा के विमर्श से बाहर रखा गया। साहित्य केवल शब्दों का संकलन नहीं, बल्कि समाज के अंतिम व्यक्ति की आवाज़ भी है। इस आलेख के माध्यम से दलित, आदिवासी, विमुक्त और घुमंतू समुदायों के सांस्कृतिक वैभव और उनके सामाजिक शोषण के यथार्थ को टटोलने की कोशिश की गई है। शोध का मुख्य केंद्र यह है कि कैसे बीसवीं सदी के उत्तरार्ध और इक्कीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में इन समुदायों ने अपनी पीड़ा को स्वयं की भाषा और संवेदना में व्यक्त करना शुरू किया। सहानुभूति से स्वानुभूति तक की यह यात्रा हिन्दी साहित्य में एक युगांतकारी परिवर्तन है। आलेख में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि उपेक्षित समुदायों का साहित्य केवल विरोध का साहित्य नहीं है, बल्कि यह मानवीय गरिमा और समानता की पुनर्स्थापना का एक जीवंत दस्तावेज़ है।

KEYWORDS: उपेक्षित समुदाय, सामाजिक यथार्थ, दलित विमर्श, आदिवासी अस्मिता, सांस्कृतिक संघर्ष, हाशिए का साहित्य, मानवीय गरिमा।

* **डॉ. सुनील गुलाबसिंग जाधव**, हिन्दी विभाग, यशवंत महाविद्यालय, नांदेड़.

भूमिका:

साहित्य समाज का दर्पण माना जाता है, परंतु लंबे समय तक हिन्दी साहित्य का यह दर्पण केवल एक विशिष्ट वर्ग, वर्ण और संस्कृति के बिंबों को ही प्रतिबिंबित करता रहा। उपेक्षित समुदायों का जीवन, उनकी विशिष्ट संस्कृति, उनके लोकगीत और उनकी कड़वी सामाजिक सच्चाइयाँ मुख्यधारा के साहित्य के लिए या तो कौतूहल का विषय थीं या फिर उपेक्षा का। इस आलेख को लिखने का मुख्य उद्देश्य उन दबे-कुचले वर्गों की आवाज़ को रेखांकित करना है, जिन्होंने अपनी लेखनी से जड़ परंपराओं को चुनौती दी है। हम यहाँ यह समझने का प्रयास करेंगे कि उपेक्षित समुदाय, जिनमें दलित, आदिवासी और खानाबदोश जातियाँ शामिल हैं, उनका सामाजिक यथार्थ क्या है और उनकी संस्कृति को साहित्य में किस प्रकार स्थान मिला है। यह आलेख इस बात पर बल देता है कि जब तक साहित्य में समाज के अंतिम पायदान पर खड़े व्यक्ति की धड़कन सुनाई नहीं देती, तब तक उसे समग्र साहित्य नहीं कहा जा सकता।

दलित विमर्श:

हिन्दी साहित्य में उपेक्षित समुदायों की बात करते समय दलित विमर्श सबसे प्रखर रूप में सामने आता है। यह केवल एक साहित्यिक आंदोलन नहीं है, बल्कि हजारों वर्षों के सामाजिक अन्याय के विरुद्ध एक बौद्धिक विद्रोह है। दलित साहित्य ने उस यथार्थ को प्रस्तुत किया जिसे देखने से समाज कतराता रहा है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' केवल एक आत्मकथा नहीं है, बल्कि वह उस सामाजिक संरचना पर करारा प्रहार है जो एक मनुष्य को जन्म के आधार पर हीन मान लेती है। दलित संस्कृति में श्रम की महत्ता है, लेकिन विडंबना यह है कि उसी श्रम को समाज ने अछूत घोषित कर दिया। विद्वानों का मत है कि दलित साहित्य ने हिन्दी भाषा को एक नया तेवर और नए मुहावरे दिए हैं। डॉ. धर्मवीर के अनुसार, दलित चेतना का मूल उद्देश्य समाज का पुनर्गठन है न कि केवल विरोध। समाज में व्याप्त यह द्वंद्व संवादों के माध्यम से भी झलकता है। एक स्थान पर पात्र की पीड़ा फूट पड़ती है, "क्या हमारा पसीना पानी है, जो जमीन पर गिरते ही सूख जाता है और उसकी कोई कीमत नहीं होती?" (1)। यह प्रश्न आज भी हमारे सामाजिक ढांचे की न्यायप्रियता पर एक बड़ा सवालिया निशान खड़ा करता है।

आदिवासी साहित्य:

उपेक्षित समुदायों में आदिवासी समाज का स्थान विशिष्ट है। उनकी संस्कृति जल, जंगल और जमीन से जुड़ी हुई है। मुख्यधारा के समाज ने आदिवासियों को हमेशा 'पिछड़ा' या 'असंस्कृत' माना, जबकि वास्तविकता यह है कि उनकी संस्कृति में प्रकृति के प्रति जो सम्मान है, वह आधुनिक समाज में दुर्लभ है। आदिवासी साहित्य के माध्यम से यह यथार्थ सामने आया कि विकास के नाम पर उनकी जड़ों को कैसे काटा जा रहा है। रमणिका गुप्ता और हरिराम मीणा जैसे साहित्यकारों ने आदिवासियों के इस दर्द को वाणी दी है।

आदिवासी समुदाय का सामाजिक यथार्थ विस्थापन और अपनी पहचान खोने के डर से भरा हुआ है। उनकी संस्कृति में सामूहिकता है, जहाँ 'मैं' से अधिक 'हम' का महत्व है। विस्थापन के दर्द को बयां करता एक संवाद द्रष्टव्य है, "तुमने हमारी जमीन छीन ली, हमारे जंगल काट दिए, अब बताओ हम सांस कहाँ से लें?" (2)। यह संवाद उस गहरी चोट को दर्शाता है जो आधुनिक विकास ने इस उपेक्षित समुदाय को दी है। विद्वान गंगा सहाय मीणा का मानना है कि आदिवासी साहित्य का सरोकार केवल अतीत की स्मृतियाँ नहीं, बल्कि वर्तमान का अस्तित्व बचाना है।

विमुक्त और घुमंतू समुदाय:

हिन्दी साहित्य में विमुक्त और घुमंतू जातियों के बारे में बहुत कम लिखा गया है, जबकि ये समुदाय सबसे अधिक उपेक्षित रहे हैं। औपनिवेशिक काल में 'क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट' के तहत इन्हें जन्मजात अपराधी घोषित कर दिया गया था, और आज़ादी के बाद भी समाज की दृष्टि इनके प्रति नहीं बदली। इनकी संस्कृति यायावरी की संस्कृति है, जिसमें कोई स्थायी घर नहीं, कोई स्थायी जमीन नहीं। इनका सामाजिक यथार्थ असुरक्षा और निरंतर पलायन है। मैत्रेयी पुष्पा और महाश्वेता देवी (जिनका प्रभाव हिन्दी साहित्य पर गहरा है) ने इन समुदायों की जिजीविषा को चित्रित किया है। इन समुदायों के यथार्थ में शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी बुनियादी सुविधाओं का अभाव है। इनके जीवन का सबसे बड़ा संघर्ष पुलिसिया प्रताड़ना और सामाजिक तिरस्कार है। एक वृद्ध पात्र का कथन उनकी पूरी पीढ़ी के दर्द को समेटे हुए है, "साहब, हम तो हवा की तरह हैं, जहाँ जगह मिली रुक गए, लेकिन कानून हमें हर जगह बेगाना ही समझता है।" (3)। यह उपेक्षा उनकी संस्कृति को लुप्त होने की कगार पर ले आई है।

सांस्कृतिक संघर्ष और भाषा की राजनीति:

उपेक्षित समुदायों के सामाजिक यथार्थ में एक बड़ा हिस्सा उनकी भाषा और बोली का है। अक्सर मुख्यधारा के साहित्य में 'खड़ी बोली' के वर्चस्व ने आंचलिक बोलियों और हाशिए के समाज की भाषा को 'गँवारू' करार दिया। लेकिन उपेक्षित समुदायों के साहित्यकारों ने अपनी मिट्टी की गंध वाली भाषा का प्रयोग कर इस भाषाई राजनीति को चुनौती दी है। उनकी संस्कृति में लोकगीत, लोककथाएँ और कहावतें एक जीवंत परंपरा के रूप में मौजूद हैं। जब एक दलित या आदिवासी लेखक अपनी भाषा में लिखता है, तो वह केवल शब्द नहीं लिखता, बल्कि अपनी सदियों की दबी हुई संस्कृति को पुनर्जीवित करता है। विद्वान नामवर सिंह का मानना था कि हाशिए का साहित्य हिन्दी की शब्द-शक्ति को व्यापक बनाता है। इस सांस्कृतिक संघर्ष में यह समझना आवश्यक है कि उपेक्षित समुदाय अपनी संस्कृति को बचाए रखने के लिए किस हद तक जद्दोजहद कर रहे हैं। संवादों की बारीकियाँ इस यथार्थ को और गहरा करती हैं, "हमारी बोली में हमारे पूर्वजों की रूह बसती है, तुम उसे कागज पर

उतारने से पहले अपने मन के मैल को साफ करो।" (4)।

स्त्री और उपेक्षित वर्ग:

जब हम उपेक्षित समुदायों की बात करते हैं, तो उस समुदाय की स्त्री की स्थिति और भी विकट नज़र आती है। वह न केवल जाति और वर्ग के आधार पर उपेक्षित है, बल्कि अपने ही समुदाय के भीतर पितृसत्तात्मक ढांचे का भी शिकार है। दलित और आदिवासी स्त्रियों का सामाजिक यथार्थ उनके श्रम और उनके शोषण के इर्द-गिर्द घूमता है। सुशीला टाकभौरे और कौशल्या बैसंत्री जैसी लेखिकाओं ने इस दोहरी गुलामी की परतों को खोला है। इन महिलाओं की संस्कृति में स्वावलंबन तो है, लेकिन सामाजिक सुरक्षा का नितांत अभाव है। उनकी कहानियों में वह टीस साफ दिखाई देती है, जहाँ वे समाज और परिवार दोनों से लड़ रही हैं। एक स्त्री पात्र का यह कथन उनकी शक्ति और विवशता दोनों को दर्शाता है, "खेत में काम करते हुए सूरज की तपिश सह लेती हूँ, लेकिन तुम्हारी नफरत भरी नजरें मेरा कलेजा छलनी कर देती हैं।" (5)। यह यथार्थ हमें सोचने पर मजबूर करता है कि उपेक्षित समुदायों के भीतर की स्त्री की मुक्ति का मार्ग कितना कठिन है।

निष्कर्ष:

हिन्दी साहित्य में उपेक्षित समुदाय की संस्कृति और सामाजिक यथार्थ का चित्रण महज एक साहित्यिक फैशन नहीं, बल्कि एक सामाजिक अनिवार्यता है। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि इन समुदायों ने अपनी पीड़ा को संघर्ष के औजार के रूप में तब्दील कर लिया है। दलित, आदिवासी और घुमंतू समुदायों का साहित्य हमें यह सिखाता है कि लोकतंत्र केवल मतों की गिनती नहीं है, बल्कि यह हर नागरिक को सम्मानजनक जीवन देने की प्रतिबद्धता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम उनकी संस्कृति को 'म्यूजियम' की वस्तु न समझें, बल्कि उसे जीवन जीने के एक वैकल्पिक और समृद्ध तरीके के रूप में स्वीकार करें। साहित्य का ठोस संदेश यही है कि जब तक समाज के सबसे निचले पायदान पर बैठे व्यक्ति के सामाजिक यथार्थ को सहानुभूतिपूर्वक नहीं समझा जाएगा, तब तक एक समतामूलक समाज का निर्माण असंभव है। साहित्य की सार्थकता तभी है जब वह मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने का सेतु बने, न कि दूरी बढ़ाने की दीवार।

सन्दर्भ:

1. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, 'जूठन', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010, पृष्ठ संख्या 45-48।
2. नैमिशराय, मोहनदास, 'अपने-अपने पिंजरे', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012, पृष्ठ संख्या 112।
3. मीणा, गंगा सहाय, 'आदिवासी साहित्य का स्वरूप', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015।
4. गुप्ता, रमणिका, 'हाशिए के लोग', सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृष्ठ संख्या 89।
5. भारतीय दलित साहित्य अकादमी की आधिकारिक वेबसाइट (www.dalitsahitya.org), आलेख: 'दलित चेतना के आयाम', अभिगमन तिथि: 12 मार्च 2024।